ISSN: 2456–4397 RNI No.UPBIL/2016/68067 Vol-6* Issue-9* December-2021
Anthology : The Research

अथर्ववेद में निरूपित पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त

Theory of Reincarnation as Formulated in the Atharvaveda

Paper Submission: 10/12/2021, Date of Acceptance: 23/12/2021, Date of Publication: 24/12/2021

नीतू शर्मा
शोध छात्रा,
संस्कृत विभाग,
राजर्षि भर्तृहरि मत्स्य विश्वविद्यालय अलवर,
राजस्थान, भारत

भारतीय वेदान्त-दर्शन में देह का देहान्तर तो स्वीकार किया जाता है, किन्तु आत्मा का नहीं। आत्मा तो वस्तुतः ब्रह्म का अमरपुत्र या स्वरूप ही है। अतएव वह नित्य, अजर, अमर, अजन्मा तथा स्वयम्भू ही है।[1] वह स्थूलशरीर का दास अथवा उसके अधीन नहीं है। आत्मा तो सम्पूर्ण रूप से ही देहातिरिक्त, स्वाधीन एवं मृत्युहीन है। हिन्दुओं का दृढ़ विश्वास है कि शरीर का त्याग करने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है। स्थूल-शरीर का नाश होने पर अथवा अग्नि संस्कार करने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता और न ही वह पुनर्जन्म लेता है, अपितु एक देह को त्यागकर दूसरी देह में प्रवेश कर जाता है। यह अजन्मा आत्मा ईष्वर का शाश्वत सखा अथवा बन्धु समान है;[2] जैसा कि अथर्ववेद का निम्न मन्त्र स्पष्टतया उद्घोष करता है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनष्नन्त्रन्यो अभि चाकषीति॥

यह सत्य सङ्कल्प जीवात्मा अमर, प्राणशक्ति से सम्पन्न, नित्य वर्धमान तथा विराट् सृष्टि के रूप मंे प्रकट होने वाला, संसार के समस्त पदार्थों में प्रथम विद्यमान तथा श्रेष्ठ है क्योंकि प्रजापति (परमेश्वर ही अदृष्ट रूप से गर्भ के अन्दर सञ्चार करता है और नाना योनियों में अनेक प्रकार के शरीर धारण करता हुआ उत्पन्न होता है[3] तथा देह धारण करने की इच्छा से ही गर्भ बनकर माता की योनि में प्रविष्ट होता है जो पहल अप्रतिहत ज्ञानमय होने के कारण अव्याहत वाणी को भी समझता था[4] यद्यपि यह आज अपने नवीन रूप में पुनः प्रकट हो रहा है (जन्म ले रहा है); तथापि मनीषी जन इसे नित्य सनातन पुरुष ही मानते है[5] यह जीवात्मा नाना जन्मों को ग्रहण करने के कारण कभी किसी का पिता बनता है, कभी पुत्र, कभी अग्रज और कभी अनुज। वह एक ही प्रकाशस्वरूप आत्मा (अन्तःकरण) में प्रविष्ट होकर बार-बार गर्भ में आकर नये-नये रूप में जन्मता रहता है। उस जीवात्मा में स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं। यदि वह पुरुषरूप में जन्मता है तो स्त्रीरूप में भी।

In Indian Vedanta philosophy, the death of the body is accepted, but not the soul. The soul is actually the immortal son or form of Brahma. Therefore he is eternal, unborn, immortal, unborn and swayambhu. 1 He is not a slave or subordinate to the physical body. The soul is completely detached, independent and deathless. Hindus firmly believe that the soul continues to exist even after giving up the body. After the destruction of the physical body or even after performing fire rites, the soul does not perish nor does it take rebirth, but leaving one body and entering another body. This unborn soul is like an eternal friend or brother of God; 2 As the following mantra of Atharva Veda clearly declares-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनष्नन्त्रन्यो अभि चाकषीति॥

This true resolution, the soul, immortal, full of vitality, ever-increasing and manifesting as the cosmic creation, is the first and the best among all the things of the world, because the Prajapati (God unseen) communicates in the womb and in various forms. He is born taking many different types of bodies, 3 and because of the desire to conceive the body enters the womb of the mother, who, being in the first place of knowledge, used to understand the non-verbal voice, although today it reappears in its new form. However, the sages consider it to be a eternally eternal person. 5 This soul, by taking multiple births, sometimes becomes one's father, sometimes a son, sometimes an ancestor and sometimes an ancestor. He is one soul in the form of light. After entering the inner soul, he comes again and again in the womb and takes birth in a new form. There is no distinction between male and female in that soul.

मुख्य शब्द : पुनर्जन्म, अथर्ववेद, मरणोपरांत, सूक्ष्मशरीर, जीवात्मा, परमात्मा, ब्रह्मलोक ।
Keywords: Reincarnation, Atharvaveda, Posthumous, Subtle body, Jivatma, Paramatma, Brahmaloka.

प्रस्तावना

यह सूक्ष्म-शरीर (आत्मा) ही प्रकृत मानवसत्ता है। सूक्ष्मसूक्ष्म-शरीर ही मनुष्यरूप आकार में रूपान्तरित हो पुनर्जन्म ग्रहण करता है। सूक्ष्म शरीर का कोई आकार विशेष नहीं, किन्तु वह कोई भी आकार धारण कर सकता है। इसी सूक्ष्म शरीर में प्राणी का सब कुछ विद्यमान रहता है। इसमें अनन्त शक्ति एवं अनन्त सम्भावनायें रहती हैं। मृत्यु समय यह अपनी समस्त शक्तियों को सङ्कुचित कर लेता है। पुनः समय आने पर अनुकूल परिवेश पाकर वही पुनः शरीर धारण करता है। माता-पिता तो मात्र शारीरिक संरचना के सहायक हैं, इसके अतिरिक्त उनकी अन्य कोई भूमिका नहीं होती। माता-पिता आत्मा की सृष्टि नहीं कर सकते। वे अपनी इच्छानुसार सन्तान उत्पन्न करने तक में समर्थ नहीं हैं क्योंकि यदि आत्मा माता-पिता के अन्दर आविर्भूत होकर प्राण बीज का सिञ्चन न करे तो मानव का जन्म असम्भव है। इस प्राण-बीज में ही मन, बुद्धि, तर्कशक्ति, समस्त इन्द्रियाँ आदि निहित रहती हैं। इन सभी शक्तियों के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में प्रारब्ध एवं पूर्वजन्म के संस्कार भी रहते हैं। सूक्ष्म शरीर (आत्मा) मनुष्यरूप में यदि पृथ्वी पर रह सकता है तो मरणोपरान्त स्वर्ग या दूसरे उच्च लोकों में भी जा सकता है तथा अनुकूल परिस्थिति न पाने तक अदृश्य अवस्था में भी रह सकता है। पुनः स्वकामनानुसार पृथ्वीलोक में उत्पन्न हो जाता है। इसी क्रम को पुनर्जन्म या सूक्ष्म से स्थूल देह में रूपान्तर कहते हैं जो आदिकाल से निरन्तर होता चला आ रहा है।

अध्ययन का उद्देश्य

शोध का उद्देश्य मानव जीवन के पुनर्जन्म की प्रासंगिकता को बताना है। वैदिक इतिहास के माध्यम से वर्तमान भौतिक जीवन की ओर अग्रसर मानव को पुण्य कर्म करने हेतु प्रेरित करना है। मानव को सद्गति प्राप्ति हेतु पुनीत कर्मों की ओर अग्रसर करना है।

साहित्यावलोकन

इस अज्ञानमय जगत् में ज्ञानधन अनन्त-तेजा (आत्मा) या सूक्ष्मसूक्ष्म-शरीर परम से अध मसा बनकर, मूढ़वत् अपने स्वरूप को भुजाकर विविध उच्चावच योनियों में भ्रमण करता हुआ, अनित्य एवं विनश्वर देह के सुख दुःखादि भावों में आत्मीय प्रज्ञा के कारण अनन्तकाल तक जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है। यदि कभी पुण्य कर्मवश मानवयोनि में जन्म तथा सुबुद्धि एवं सत्सङ्गति का साहचर्य प्राप्त हो गया तो पुनः ज्ञान और विवेक के आत्म-स्वरूप को जान कर उसकी प्राप्ति हो गया तो पुनः ज्ञान और विवेक से आत्म-स्वरूप को जान कर उसकी प्राप्ति हेतु सचेष्ट रहता है और कभी न कभी स्वलक्ष्य को प्राप्त हो जाता है6 अन्यथा लक्ष्य न प्राप्त होने की स्थिति में जन्म, शैशव, तारुण्य, वृद्धत्व एवं मरण आदि को भोगकर कोल्हू के बैल के समान निरन्तर-निरन्त लक्ष्यहीन चक्र में गति करता रहता ह7 । अधोलिखित वेद-मन्त्र उक्त कथन में प्रमाणभूत है-

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अष्नुवे भागमस्याः॥

मैं नहीं जानता मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कैसा हूँ, किसके समान हूँ? मेरा गुण, धर्म, स्वरूप आदि क्या है? क्या मैं यह शरीरादि हूँ या नहीं? अज्ञान के आवरण से मैं अपने स्वरूप को भुला बैठा हूँ, अतएव मन (अन्तःकरण का उपलक्षण है) तथा शरीर के बद्ध होकर संसार-सागर में गोते खाता हुआ भटक रहा हूँ। मैं इस आवागमन की शृङ्खला में पूर्णतया बँध गया हूँ। अब तो यदि भगवत्कृपा से प्रत्यक्प्रवण-चित्त के द्वारा ऋत की प्रथमजा अर्थात् ईश्वरीय शक्ति का हृदय में अनुभव या उन्मेश हो जाय तभी शब्दब्रह्म (वेद) के द्वारा प्राप्तव्य (अथवा अखिल वेद प्रतिपाद्य) उस ब्रह्मपद (मोक्ष) को प्राप्त कर सकूँ। इस मन्त्र में ऋषि का आशय है कि चित की बहिर्मुखता का त्याग करके अन्तर्मुखता की प्राप्ति ही दुःसाध्य है। वह जब सम्भव हो तभी स्वरूप का दर्शन सम्भव है।

मानव के मोक्ष-मार्ग को बाधित करने वाली बहिर्मुखता का कठोपनिषद् में निम्न प्रकार से निरूपण किया गया है[8] -

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पष्यति नान्तरात्मन्।
कष्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥

परमेश्वर के द्वारा इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया गया है, यही कारण है कि जीव अन्तः विषयों को न देखकर बाह्य विषयों का अवलोकन करता है। अमरत्व की इच्छा रखने वाला कोई धीरपुरुष ही इन्द्रियों को स्ववश करके प्रत्यगात्मा को देख पाता है। इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को अथर्ववेद में अनिष्टकारी आसुरी प्रवृत्तियों का विनाशक कहा गया है[9] वही अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप शक्तियों के प्रभाव से विहतप्रभ होकर लौकिक भोग-सुखों के आकर्षण में पड़कर, स्वामी से दास बनकर, अनन्त-काल के लिए कर्मबन्धन तथा आवागमन के चक्कर में जकड़ जाता है। प्राकृतिक वैभव देखने में तो आकर्षक प्रतीत होता है किन्तु उसका अधिक उपभोग या लिप्सा निर्बलताजनक है। सांसारिक विषयभोगेच्छा मानव की स्वाधीनता को नष्ट करके उसे आपातरमणीय प्रकृति का क्रीतदास बना देती है तथा क्रमषः अधःपतन के भयानक गर्त में ढकेल देती है, जहाँ से निकल कर पुनःऊपर जाना असम्भव नहीं तो दुष्कर तो अवष्य हो जाता है। जैसा कि निम्न श्रुतिवाक्य में स्पष्ट किया गया है-

जो इस सर्वज्ञ, सर्वपूज्य, समस्त सूर्यादि देवों अथवा शरीर में प्राणेन्द्रियों के भी कारणभूत (उत्पत्ति स्थान) तथा पालक, माता के उदर में गर्भरूप में प्रकट होने वाले तथा पिता के भी प्राणरूप (ब्रह्माण्ड पक्ष में-माता-पृथ्वीरूप गर्भ के समान व्यापक तथा पिता द्युलोक या सूर्य के समान जीवनदाता) नित्य तरुण, कूटस्थ, नित्य आत्मा के स्वरूप को मनन-निदिध्यासनादि के द्वारा सम्यक् रूप से (न कि मात्र श्रुतिवाक्य

श्रवण से ही) जान चुका है, ऐसे ज्ञानी को हमें प्राप्त कराइये। जिससे वह हमंे आत्मा के सम्बन्ध में अपने स्वानुभव के आधार पर प्रकृष्ट रूप से उपदेश करें[10] ।

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि आत्मा नित्य, अजन्मा तथा अमर्त्य है, उसका जन्म-मरण तो आभास मात्र है। पार्थिव शरीर का क्या जन्म और क्या मृत्यु। अतः अथर्ववेद में शरीर रक्षक आत्मा को अहिंसा (अदब्धः) कहा गया है[11] -

वैष्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्व॥

उपर्युक्त वेद के आप्तवाक्य को महाभारत में अति सुन्दर शब्दों में निम्न प्रकार से अनूदित किया गया है12 -

न जीवनाषोऽस्ति हि देहमध्ये मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दषाधतिवास्य शरीरभेदः॥

मानवदेह में निवास करने वाले जीवात्मा का नाश (मृत्यु) नहीं होता। मूढ़ अज्ञानी जन ही मायावश मिथ्याज्ञान से युक्त होकर जन्म-मृत्यु का प्रलाप किया करते हैं। जबकि जीव एक देह को त्यागकर देहान्तर में प्रविष्ट हो जाता है। अतः प्राणी की मृत्यु देह परिवर्तन या शरीर का पञ्चतत्त्व में मिल जाना ही है। अतएव अथर्ववेद के केनसूक्त में शरीर को जीवात्मा का वस्त्र कहा गया है[3] -

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत्।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम्॥

इस प्रकार वेदादि शास्त्रों में व्यक्ति की मृत्यु वस्त्रपरिवर्तन के समान कही गयी है तथा शरीर में स्थित प्राण, इन्द्रियों आदि को सेवक कहा गया है[14] -

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः॥

मानव-सूक्ष्म-शरीर में शयन करने वाले इस इन्द्र रूप प्राणवान् आत्मा के लिए सात प्राण (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि) गति करते हैं। जिस प्रकार पुत्र (पुन्नाम नरकात्रायते इति पुत्रः) पिता हेतु सत्य पुण्यरूप कर्मों को करते हुए उनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सप्त प्राण भी ज्ञानप्राप्त्यादि व्यापारों को करते हुए आत्मा (जीव) की नरकादि अमङ्गल से रक्षा करते हैं।

इस प्रकार सूक्ष्मता से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि हमारी अमङ्गल से रक्षा करने वाला क्षमतावान् पिता ईष्वर ही है, जो प्राण आदि में भी व्याप्त है और यदि हमारा पिता वह पमेश्वरर ही है तो वह पक्षपात कैसे कर सकता है, हाँ यह अवश्य हो सकता है कि वह हमारे कर्मों के अनुसार दण्ड दें। क्योंकि पिता अपने पुत्र का अहित न हो ऐसा सोचकर नित्यप्रति सत्कर्मों हेतु प्रेरित करता है और सत्कर्म ही जीव को सद्गति प्रदान करते हैं।

मानव की मरणोत्तर गतियों का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण मृत्यु उपरांत जीवात्मा दो प्रकार की दशाओं को प्राप्त होता है प्रथम गति और दूसरी अगति ।

प्रथम गति- वह स्थिति है जिसमें प्राणी आवागमन के चक्र में फंसा रहता है तथा मृत्यु लोक के क्षणभंगुर सुखों को भोग कर अंत में मृत्यु उपरांत यम के यहां जाता है । यम जो प्रेतात्माओं तथा पितरों अर्थात पुण्यात्माओं और दुराचारियों का भी राजा है । वही समस्त जीवो के कर्मानुसार उत्तम अथवा अधम लोकों की गति निर्धारित करता है। गतिशील चार प्रकार के लोक बताए गए हैं। ब्रह्मलोक गतिए देवलोक गतिए पितृलोक गति तथा निकृष्ट नरक लोक गति । इन समस्त लोगों का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

दूसरी अगति जिसमें गमनाभाव अर्थात मोक्ष प्राप्त हो जाता है । यह स्थिति निष्काम कर्म करने वाले तत्वदर्शी परम ज्ञानी की होती हैए जिसमें जीवात्मा अंतःकरण रूप उपाधि संबंध से कल्पित जीवभाव को त्याग कर स्वयं ब्रह्मरूप होकर विष्णु अर्थात सर्वव्यापक परमात्मा के उस परमधाम को प्राप्त कर लेता हैए जहां न भूख है, न प्यास, न शीत है, न गर्मी है । न कोई अपना और न ही कोई पराया है ।

सर्वव्यापक परमात्मा (विष्णु) के उस परमधाम में आनंद ही आनंद हैए किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। अतः कोई नवीन कामनाएँ भी नहीं हैं । जहाँ मधु अर्थात अमृत का स्त्रोत है, उस परमधाम को प्राप्त कर लेने वाला जीवात्मा समस्त पाशों से छूट कर आवागमन अर्थात् पुनः.पुनः जन्म.मृत्यु की श्रंखला से मुक्त हो जाता है

संसार में गति तथा अगति प्राप्त करने वाले चार प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैं . ज्ञानीए उपासकए कर्मठ तथा कुकर्मी । इसमें से ज्ञानी तो आवागमन के भाव से मुक्त होते हैंए वे जीवभाव का अंत होने पर अपने ब्रह्मरूप में स्थित हो जाते हैं । जैसा कि उपनिषदों में प्राप्त होता है दृ

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्
इहैव समवलीयन्ते[15] ।
ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति[16] ।

द्वितीय श्रेणी में वे उपासक आते हैंए जो दो प्रकार के होते हैं । एक पंचाग्नि.उपासक दूसरे ब्रह्म.उपासक । वैसे वे दोनों ही ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं किंतु अंतर बस इतना है कि पंचाग्नि.उपासक की उसी कल्प में पुनरावृति नहीं होती है[17] किंतु अन्य कल्प में उसकी पुनरावृत्ति भी अनिवार्य है । जबकि ब्रह्म.उपासक की पुनरावृति न हो कर क्रममुक्ति होती है। कल्पान्त में जब ब्रह्मलोक का नियंता हिरण्यगर्भ मुक्त होता है तो उसके उपदेश से सभी ब्रह्म उपासकों को आत्म साक्षात्कार हो जाता है और हिरण्यगर्भ के साथ साथ सभी ब्रह्मलोक वासी ब्रह्म-उपासक भी मुक्त हो जाते हैं । तृतीय श्रेणी में कर्मठ व्यक्ति आते हैं जो मरणोपरांत देवलोक या पितृ लोक को प्राप्त होते हैं । कर्मों की उत्कृष्टता या न्यूनता द्वारा इन लोकों का निर्धारण करते

हैं । पितृलोक पृथ्वी और द्युलोक के मध्यवर्ती अंतरिक्ष में है तो देवलोक ग्राह्य स्वर्ग तथा उससे भी ऊपर परमेष्ठिमण्डल में स्थित है । मानव इन दोनों ही लोकों में प्राप्त सुखों को भोगने के पश्चात प्रत्यावर्तन करते हैं । वे क्रमशः आकाश, वायु, धूम, अभ्र तत्पश्चात मेघ बनकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी पर पहुँचकर व्रीहि, यवादी पौधों के साथ संश्लिष्ट होते हैं । इस प्रकार क्रम से मानव शरीर प्राप्त करते हैं ।

चतुर्थ अर्थात् निकृष्ट श्रेणी में कुकर्मी व्यक्ति आते हैंए जो मृत्यु उपरांत नरक लोक गामी होते हैं । जहां न्याय.विचारए नीति का नियम अत्यंत ही कठोर हैए वहाँ दया नाम की कोई वस्तु नहीं है । कार्य.कारण नियम अकाट्य है। जो कुछ भी बोओगे वही काटोगे । इसलिए यह कार्यकारण नियम जिसे हम कर्म नियम कहते हैंए न तो विधवा के आँसुओं से टलता है और न अनाथ शिशु के रोने से । हमने जैसा भी किया है उसका वैसा ही फल या तो इसी लोक में अथवा अन्य लोक में भोगना ही होगा । कुकर्मी.जन ष्यातनाशरीरष् से रौरव आदि नरकों में जाकर विभिन्न यातनायें भोगते हैं और पुनः.पुनः जन्म.मृत्यु परम्परा को प्राप्त होते हैं और फिर पूर्वनिर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार क्रमशः स्थावरयोनि, वृक्ष पर्वतादि, अस्थिरहित कीट-पतंगादि योनिद्ध, अस्थि सहित, पशु-पक्षियोनि तत्पश्चात मनुष्य- योनि को प्राप्त करते हैं। इन समस्त गतियों का कारण स्वयं मानव ही है[18] ।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगक्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवभिमर्शनः॥

अथर्ववेद में जीवात्मा के पृथ्वीलोक से प्रस्थान (मृत्यु के पश्चात् गमन) के दो मार्ग बताए गए हैं । समस्त देवोंए पितरों, तथा मनुष्यों के हेतु पितृयान मार्ग तथा ऋषि, ज्ञानी एवं योगीजनों को देवयान मार्ग प्राप्त होता है । द्यावापृथ्वी के मध्य में स्थित यह समस्त गतिमान् विश्व इन दोनों मार्गों से गति करता है अर्थात् परलोक गमन करता है[19] ।

ऋग्वेद शतपथब्राह्मणए'1/4/9 तैत्तिरीयब्राह्मण';1/4/2/ तथा अन्य वेदादि ग्रंथों में भी इन्हीं दोनों मार्गों के द्वारा जीव की मरणोत्तरगति कही गयी है ।

पितृयान नामक मार्ग उन धार्मिक पुरुषों को प्राप्त होता है जो परलोक में स्वर्गादि सुखों की कामना से इष्टापूर्तादि काम्य कर्म करते हुए धर्माचरण द्वारा अपना जीवन व्यतीत करते हैं । ऐसे पुरुष मृत्युपरांत पितृयान मार्ग से गमन करते हुए पितरयोनि को प्राप्त करते हैं तथा पितरों के निवासस्थान, पितृलोक या स्वर्गद्ध में कुछ समय तक सुखों का भोग करके या तो देवत्व को प्राप्त कर लेते हैंए अथवा पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः पृथ्वीलोक में आकर जन्म ग्रहण करते हैं ।

छांदोग्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में उपर्युक्त पितृयान मार्ग को धूमयान की संज्ञा देकर निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है।

जो सकाम गृहस्थजन इष्टापूर्त एवं दानकर्म की उपासना करते हैं वे धूम को प्राप्त होते हैंए धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के शण्मासों को प्राप्त होते हैं । ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते। दक्षिणायन मासों से पितृलोक को पितृलोक से आकाश को और आकाश से चंद्रमा को प्राप्त होते हैं । वहां इंद्रलोक में कर्मक्षयपर्यंत निवास कर जिस मार्ग से गए थे उसी मार्ग से फिर लौटते हैं । वे प्रथम आकाश को प्राप्त होते हैं, आकाश से वायु को, वायु से धूम को प्राप्त होते हैं। धूम से अभ्र तथा अभ्र से मेघ होकर बरसते हैं । तब वे जीव इस लोक में यव, धान, औषधि, वनस्पति, तिल-माषादि होकर उत्पन्न होते हैं। उस अन्न का जो भक्षण करता है एवं जो वीर्यसेचन करता हैए वह जीव तद्रूप ही हो जाता है उन जीवों में जो पुण्याचरण वाले होते हैं, वे त्वरित ही उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य आदि योनियों में जन्म धारण करते हैं। किंतु, जो निकृष्ट कर्म करने वाले होते हैं वे शीघ्र ही अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं । कुत्ता, कुकर एवं चण्डाल आदि योनियों में जन्मते हैं ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त समग्र विवेचन पर दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि प्राणी को उत्तम गति मानवयोनि में ही प्राप्त हो सकती है । क्योंकि मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है । शेष समस्त योनियाँ भोगयोनियाँ ही है । मनुष्य अपने शुभ कर्मों तथा विचारों से पितृलोक अथवा देवयोनि को प्राप्त कर सकता हैए अथवा सदा के लिए मोक्ष प्राप्त कर के आवागमन से मुक्त हो सकता हैय किंतु नीचए कुत्सित आचरणों तथा भावनाओं या वासनाओं से कीट.पतंगादि नारकीय योनियों में अनंतकाल तक पडा हुआ दुःख भोगा करता है । अतः मानव को क्षुद्रकर्म न करते हुए इस वीभत्स संसार से घृणा करनी चाहिए । क्योंकि इस मृत्युलोक में न ही जन्म उत्तम हैए न ही मृत्यु । किंतु, यदि मानवयोनि प्राप्त हो ही जाए तो वह जैसा चाहे, वैसा बन सकता है अर्थात उत्तम जन्म धारणकर उत्तमगति प्राप्त कर सकता है। जैसा कि बृहदाण् उपण् में वर्णित है।

यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवती, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः -काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते[20] इसी प्रकार श्रीमद्भागवतगीता में भी कहा गया है[21]

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तदाभावभावितः॥

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *अथर्वसंहिता 10/8/44*
2. *अथर्वसंहिता 9/9/20*
3. *वही 10/8/13*
4. *वही 5/1/1,2*
5. *अथर्वसंहिता 10/8/23*
6. *गीता 6ध्45*
7. *अथर्वसंहिता 9/10/15*
8. *कठोपनिषद 2/1/1*
9. *अथर्वसंहिता 4/10/2,5*
10. *अथर्वसंहिता 7/2/1*
11. *अथर्वसंहिता 6/53/2*
12. *शांतिपर्व 18/5/27*
13. *अथर्वसंहिता 10/2/15 व गीता 2/22*
14. *अथर्वसंहिता 7/57/2*
15. *वृहदारण्यक 4/4/6*
16. *मुंडकोपनिषद 3/2/9*
17. *छान्दोग्योपनिषद 4/15/6*
18. *ऋग्वेद 10/60/12*
19. *अथर्वसंहिता 15/12/6*
20. *वृहदारण्यक 4/4/5*
21. *गीता 8/6*